

तमिलनाडु में संयुक्त प्रवेश परीक्षा की समाप्ति

अरविंद सरदाना

तमिलनाडु सरकार द्वारा प्रदेश में संयुक्त प्रवेश परीक्षा को समाप्त करने के बुलंद कदम का स्वागत किया जाना चाहिए। यह परीक्षा मेडिकल व इंजीनियरिंग पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए होती थी। इसे समाप्त करके अब इन पाठ्यक्रमों में दाखिला 12वीं के प्राप्तांक के आधार पर मिलता है। इससे जुड़े मुद्दों पर चर्चा होनी चाहिए और समझने का प्रयास होना चाहिए।

दरअसल, संयुक्त प्रवेश परीक्षा को समाप्त करने के तर्क वर्तमान सामाजिक परिवेश में से ही उभरते हैं। इनका आधार किसी परीक्षा विशेष की अच्छाई या बुराई नहीं है। तर्क यह भी नहीं है कि सा.प्र.प. समाप्त कर देने से बोर्ड परीक्षाओं में छात्रों का प्रदर्शन बेहतर हुआ है। बोर्ड परीक्षाओं में प्रदर्शन में सुधार के कई कारण हो सकते हैं।

हमें देखना यह होगा कि संयुक्त प्रवेश परीक्षा के कारण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किस तरह की विकृतियां उभरती हैं। एक तो यह प्रथा गहन छंटवाई करती है और और उन लोगों के हक में जाती है जो कोचिंग क्लासेस में पैसा खर्च कर सकते हैं क्योंकि यह देखा गया है कि ये क्लासेस प्रवेश परीक्षा में ज़रूर लाभ पहुंचाती हैं। दूसरी बात यह है कि प्रवेश परीक्षाओं में अंग्रेज़ी माध्यम के छात्रों को लाभ मिलता है। कई छात्र इसी चक्कर में अंग्रेज़ी माध्यम में जाते हैं और विषय समझने की कोशिश तथा अंग्रेज़ी माध्यम के दोहरे दबाव में हताश होते हैं। जैसा कि *दी हिंदू* में अपने आलेख में एम. आनंदकृष्णन ने कहा है, क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से पढ़ रहे बच्चे प्रायः इस दंगल से बाहर रहना ही पसंद करते हैं। लिहाज़ा संयुक्त

प्रवेश परीक्षाओं ने इस समझ को काफी विकृत किया है कि विज्ञान के नाम पर क्या पढ़ाया जाए। वस्तुतः इन परीक्षाओं का सिलेबस ही स्कूलों का सिलेबस बन गया है। अनुभव बताता है कि पाठ्यक्रम निर्माता स्कूली विज्ञान में सुधार से कतराते हैं क्योंकि मन में यह डर होता है कि कहीं प्रवेश परीक्षाओं के सिलेबस या मानकों के विरुद्ध न चले जाएं।

प्रवेश परीक्षा तराजू को अंग्रेज़ी माध्यम वालों के पक्ष में झुका देती है।

उपरोक्त तर्कों के अलावा हमें इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि इन प्रवेश परीक्षाओं ने इस समझ को काफी विकृत किया है कि विज्ञान के नाम पर क्या पढ़ाया जाए। वस्तुतः इन

परीक्षाओं का सिलेबस ही स्कूलों का सिलेबस बन गया है। यह इन परीक्षाओं की वजह से नहीं है बल्कि उस सामाजिक परिस्थिति की वजह से है जिसमें इन परीक्षाओं को इतना अधिक महत्व दिया गया है। छात्र इसी सिलेबस को गंभीरता से लेते हैं। कक्षा 11 व 12 में दाखिला लेना तो महज एक खानापूरति रह गई है, वह भी इसलिए क्योंकि प्रवेश परीक्षा में बैठने के लिए 12वीं पास होना ज़रूरी है। इसलिए 12वीं परीक्षा को अनिवार्य बुराई मानकर पूरा किया जाता है।

जो छात्र स्कूल और कोचिंग क्लास की कक्षाओं दोनों में नियमित रूप से जाने की कोशिश करते हैं वे तनाव ग्रस्त और बिखरे-बिखरे रहते हैं। इन परीक्षाओं के लिए जो कुछ ज़रूरी है वह मिडिल स्कूल के शिक्षकों तक के लिए एक अघोषित सामाजिक मानक बन गया है - ज़्यादा अध्याय, ज़्यादा आंकिक सवाल (न्यूमेरिकल्स), और तेज़ रफ्तार। प्रयोग, तर्क, चर्चा और विज्ञान का आनंद गौण हो गए हैं। यह सही है कि इस हालत के लिए सिर्फ प्रवेश परीक्षाओं को दोष देना ठीक नहीं है। मगर यह भी सही है कि प्रवेश परीक्षाओं की जो व्याख्या कोचिंग संस्थाओं और वरिष्ठ शिक्षकों ने की है वह हर स्तर की विज्ञान शिक्षा का अजेंडा बन गई है।

चाहे सामान्य प्रवेश परीक्षाएं हों या स्कूलों की अन्य

परीक्षाएं, कहा तो यह जाता है कि ये प्रतिभा या मेरिट के निर्धारण का तरीका हैं जबकि वास्तव में ये काफी बेदंगी चलनियां हैं। यह उम्मीद एक सामूहिक छलावा है कि ये परीक्षाएं मेरिट का आकलन कर सकती हैं। इसके अलावा ये मानव ऊर्जा की भयानक बरबादी भी हैं। हो सकता है कि इन परीक्षाओं से मोटे तौर पर रुझान और क्षमताओं का अंदाज़ लगता हो मगर यह कहना तो निरर्थक ही है कि 95 प्रतिशत अंक वाला छात्र तो अच्छा इंजीनियर बनेगा मगर 85 प्रतिशत वाला नहीं। यह तो वैसा ही जैसे एक छोटा-सा नाली का पाइप बाढ़ के नियमन व नियंत्रण का दावा करे।

देखा जाए तो जब तक अवसरों की इतनी कमी है और आमदनियां में भयानक अंतर हैं, तब तक मेरिट और उसका आकलन एक मरीचिका ही रहेगी और हमें किसी न किसी चलनी का इस्तेमाल करना होगा और वास्तव में कोई भी चलनी काम करेगी। तो इस समय हम संयुक्त प्रवेश परीक्षा की विदाई को लेकर इतने चिंतित क्यों हैं?

ज़ाहिर है कि संयुक्त प्रवेश परीक्षा शैतान का अवतार नहीं है मगर इस मौके पर चल रही सार्वजनिक बहस एक मौका देती है कई मुद्दे उठाने का। हमें चिंता तो इस बात की करनी चाहिए कि पिछले दो दशकों में विज्ञान विषय लेने वाले छात्रों की संख्या घटी है, वैज्ञानिक शोध में लोगों का टोटा है और हमने अधिकांश छात्रों के मन में 'विज्ञान का डर' बैठाने में सफलता प्राप्त कर ली है। अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा और व्यापक पहुंच के बल पर संयुक्त प्रवेश परीक्षाओं ने इसमें पर्याप्त योगदान दिया है।

अपने अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं कि पाठ्यक्रम निर्माता स्कूली विज्ञान में सुधार से कतराते हैं क्योंकि मन में यह डर होता है कि कहीं प्रवेश परीक्षाओं के सिलेबस या मानकों के विरुद्ध न चले जाएं। प्रांतों की मूल्यांकन समितियों को बस यह चिंता रहती है कि किसी नई शिक्षण विधि के इस्तेमाल का प्रवेश परीक्षाओं में सफलता पर

क्या व कितना असर हुआ है। विज्ञान शिक्षा में सुधार के संदर्भ में इस मापदंड को लागू करने की इच्छा के चलते पूरा मामला गड़बड़ा गया है क्योंकि ज़रूरत सिर्फ इस बात की रह गई है कि अपने सिलेबस को प्रवेश परीक्षाओं की ज़रूरतों के अनुरूप कर दो। सामान्य प्रवेश परीक्षा की समाप्ति से शायद विज्ञान शिक्षा में कुछ ताज़ा सोच व नए प्रयास संभव हो पाएंगे। अर्थात् यह सुधार का अवसर प्रदान करता है।

सार्वजनिक स्कूली परीक्षा की आलोचना पर ध्यान देना भी ज़रूरी व प्रासंगिक है। यदि यह काम साथ-साथ न किया गया तो मात्र प्रवेश परीक्षाओं की समाप्ति से कुछ नहीं होगा। इस संदर्भ में होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के अनुभव से सबक ले सकते हैं। यह कार्यक्रम एक गैर सरकारी संस्था एकलव्य और म.प्र. सरकार का संयुक्त प्रयास था। इसके अंतर्गत विज्ञान शिक्षा में सुधार का एक एकीकृत पैकेज था - पाठ्यक्रम, परीक्षा, शिक्षक प्रशिक्षण और सामग्री में एक साथ परिवर्तन किए गए थे। कार्यक्रम में शिक्षण विधि बच्चों द्वारा किए गए प्रयोगों तथा उन प्रयोगों के आधार पर चर्चा, बहस व विश्लेषण पर आधारित थी। आम तौर पर स्कूली परीक्षाएं रट्टा आधारित होती हैं। इसे भी बदलने की ज़रूरत महसूस की गई। होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम के तहत म.प्र. के 14 ज़िलों के करीब 1000 स्कूलों में पूर्व माध्यमिक संभागीय बोर्ड परीक्षा खुली किताब आधारित होती थी और साथ में प्रायोगिक परीक्षा अलग से होती थी। और बच्चों के उत्तरों का विश्लेषण करने की एक व्यवस्थित प्रक्रिया भी अपनाई गई थी जो एक फीडबैक का काम करती थी।

दूसरी समस्या स्कूली परीक्षाओं की साख बढ़ाने की है। आम तौर पर प्रवेश परीक्षाओं की साख स्कूली परीक्षाओं से ज़्यादा है। यह सही है कि स्कूली परीक्षाओं में छात्रों की संख्या बहुत अधिक होती है मगर यह तो व्यवस्था व प्रबंधन की एक चुनौती है जिसका सामना करना होगा।

चिंता तो इस बात की करनी चाहिए कि पिछले दो दशकों में विज्ञान विषय लेने वाले छात्रों की संख्या घटी है, वैज्ञानिक शोध में लोगों का टोटा है और हमने अधिकांश छात्रों के मन में विज्ञान का डर बैठाने में सफलता प्राप्त कर ली है।

दूरगामी तौर पर तो हमें परीक्षाओं की भूमिका को कम करना होगा और अवधारणाओं पर ध्यान केंद्रित करने के लिए शिक्षकों की स्वतंत्रता व सृजनशीलता पर ज़्यादा ध्यान देना होगा। उन्हें यह छूट देनी होगी कि वे स्थिति के अनुसार शिक्षण कार्य व मूल्यांकन पद्धति को ढाल सकें।

जब बड़ी संख्या में क्षेत्रीय भाषा की पृष्ठभूमि वाले छात्र पेशेवर पाठ्यक्रमों में प्रवेश पाने लगेंगे, तब उनके लिए सहज संक्रमण की व्यवस्था भी करनी होगी। उन्हें

अबोधगम्यता के हालात में छोड़ना ठीक नहीं होगा। यह एक सुनियोजित संक्रमण होना चाहिए, चाहे इसमें समय लगे, ताकि वे आत्म विश्वास के साथ, बगैर त्रस्त हुए पाठ्यक्रम पूरा कर सकें। इस मामले में भी दूरगामी तौर पर स्कूल स्तर पर बहुभाषी नीति उपयुक्त होगी।

कुल मिलाकर प्रवेश परीक्षाओं की समाप्ति एक स्वागत योग्य कदम है, बशर्ते कि हम इस अवसर का लाभ स्कूलों में विज्ञान पढ़ाने के तौर-तरीकों में कुछ बदलाव करने हेतु उठा सकें। **(स्रोत फीचर्स)**